।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ नवमोऽध्यायः

अध्याय छः तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग का क्रमबद्ध विश्लेषण किया। जिसका शुद्ध अर्थ था, यज्ञ की प्रक्रिया। यज्ञ उस परम में प्रवेश दिला देनेवाली आराधना की विधि-विशेष का चित्रण है, जिसमें चराचर जगत् हवन-सामग्री के रूप में है। मन के निरोध और निरुद्ध मन के भी विलयकाल में वह अमृत तत्त्व विदित हो जाता है। पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उसको पान करनेवाला ज्ञानी है और वह सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। उस मिलन का नाम ही योग है। उस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म कहलाता है। सातवें अध्याय में उन्होंने बताया कि इस कर्म को करनेवाले व्याप्त ब्रह्म, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञ सहित मुझको जानते हैं। आठवें अध्याय में उन्होंने कहा कि यही परमगति है, यही परमधाम है।

प्रस्तुत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्वयं चर्चा की कि योगयुक्त पुरुष का ऐश्वर्य कैसा है? सब में व्याप्त रहने पर भी वह कैसे निर्लेप है? करते हुए भी वह कैसे अकर्त्ता है? उस पुरुष के स्वभाव एवं प्रभाव पर प्रकाश डाला, योग को आचरण में ढालने पर आनेवाले देवतादिक विघ्नों से सतर्क किया और उस पुरुष के शरण होने पर बल दिया।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! असूया (डाह, ईर्ष्या) रहित तेरे लिये मैं इस परमगोपनीय ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा अर्थात् प्राप्ति के

पश्चात् महापुरुष की रहनी के साथ कहूँगा कि कैसे वह महापुरुष सर्वत्र एक साथ कर्म करता है, कैसे वह जागृति प्रदान करता है, रथी बनकर आत्मा के साथ कैसे सदैव रहता है? **'यत् ज्ञात्वा'**- जिसे साक्षात् जानकर तू दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जायेगा। वह ज्ञान कैसा है? इस पर कहते हैं-

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

विज्ञान से संयुक्त यह ज्ञान सभी विद्याओं का राजा है। विद्या का अर्थ भाषा-ज्ञान अथवा शिक्षा नहीं है। **'विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदाया।', 'सा विद्या या विमुक्तये।'** विद्या उसे कहते हैं कि जिसके पास आये, उसे उठाकर ब्रह्म-पथ पर चलाते हुए मोक्ष प्रदान कर दे। यदि रास्ते में ऋद्धियों-सिद्धियों अथवा प्रकृति में कहीं उलझ गया तो सिद्ध है कि अविद्या सफल हो गयी। वह विद्या नहीं है। यह राजविद्या ऐसी है, जो निश्चित कल्याण करनेवाली है। यह सभी गोपनीयों का राजा है। अविद्या और विद्या के अवगुण्ठन का अनावरण होने पर योगयुक्तता के पश्चात् ही इससे मिलन होता है। यह अति पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्ष फलवाला है। 'इधर करो, उधर लो' - ऐसा प्रत्यक्ष फलवाला है। यह अन्धविश्वास नहीं है कि इस जन्म में साधन करो, फल कभी दूसरे जन्म में मिलेगा। यह परमधर्म परमात्मा से संयुक्त है। विज्ञानसहित यह ज्ञान करने में सरल और अविनाशी है।

अध्याय दो में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि अर्जुन! इस योग में बीज का नाश नहीं होता। इसका थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के महान भय से उद्धार कर देता है। छठें अध्याय में अर्जुन ने पूछा था कि - भगवन्! शिथिल प्रयत्नवाला साधक नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? श्रीकृष्ण ने बताया कि अर्जुन! पहले तो कर्म समझना आवश्यक है और समझने के बाद थोड़ा भी साधन पार लग गया तो उसका किसी जन्म में कभी विनाश नहीं होता, बल्कि उस थोड़े से अभ्यास के प्रभाव से हर जन्म में वही करता है। अनेक जन्मों के परिणाम में वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति अर्थात् परमात्मा है। उसी को योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ भी कहते हैं कि यह साधन

करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है; परन्तु इसके लिए श्रद्धा नितान्त आवश्यक है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

परंतप अर्जुन! इस धर्म में (जिसका थोड़ा भी साधन करने पर विनाश नहीं होता) श्रद्धारहित पुरुष (एक इष्ट में मन को केन्द्रित न रखनेवाला पुरुष) मुझे प्राप्त न होकर संसार-क्षेत्र में भ्रमण करता ही रहता है। अतः श्रद्धा अनिवार्य है। क्या आप संसार से परे हैं? इस पर कहते हैं-

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

मुझ अव्यक्त स्वरूप से यह सब जगत् व्याप्त है अर्थात् मैं जिस स्वरूप में स्थित हूँ, वह सर्वत्र व्याप्त है। सभी प्राणी मुझमें स्थान पाये हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ; क्योंकि मैं अव्यक्त स्वरूप में स्थित हूँ। महापुरुष जिस अव्यक्त स्वरूप में स्थित हैं, वहीं से (शरीर छोड़कर उसी अव्यक्त स्तर से ही) बात करते हैं। इसी क्रम में आगे कहते हैं-

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

वस्तुतः सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं क्योंकि वे मरणधर्मा हैं, प्रकृति के आश्रित हैं; किन्तु मेरे योगमाया के ऐश्वर्य को देख कि जीवधारियों को उत्पन्न और पोषण करनेवाला मेरा आत्मा भूतों में स्थित नहीं है। मैं आत्मस्वरूप हूँ इसलिये मैं उन भूतों में स्थित नहीं हूँ। यही योग का प्रभाव है। इसको स्पष्ट करने के लिये योगेश्वर श्रीकृष्ण दृष्टान्त देते हैं-

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

जैसे आकाश से ही उत्पन्न होनेवाला महान वायु आकाश में सदैव स्थित है किन्तु उसे मलिन नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान। ठीक इसी प्रकार मैं आकाशवत् निर्लेप हूँ। वे मुझे

मलिन नहीं कर पाते। प्रश्न पूरा हुआ। यही योग का प्रभाव है। अब योगी क्या करता है? इस पर कहते हैं-

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।

अर्जुन! कल्प के विलयकाल में सब मेरी प्रकृति अर्थात् मेरे स्वभाव को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में मैं उनको बार-बार **'विसृजामि'** - विशेष रूप से सृजन करता हूँ। थे तो वे पहले से किन्तु विकृत थे, उन्हीं को रचता हूँ, सजाता हूँ। जो अचेत हैं उन्हें जागृत करता हूँ, कल्प के लिये प्रेरित करता हूँ। कल्प का तात्पर्य है उत्थानोन्मुख परिवर्तन। आसुरी सम्पद् से निकलकर जैसे-जैसे पुरुष दैवी सम्पद् में प्रवेश पाता है, यहीं से कल्प का आरम्भ है और जब ईश्वरभाव को प्राप्त हो जाता है, वहीं कल्प का क्षय है। अपना कर्म पूरा करके कल्प भी विलय हो जाता है। भजन का आरम्भ कल्प का आदि है और भजन की पराकाष्ठा, जहाँ लक्ष्य विदित होता है, कल्प का अन्त है। जब यह प्रत्यगात्मा योनियों के कारणभूत राग-द्वेषादि से मुक्ति पाकर अपने शाश्वत स्वरूप में स्थिर हो जाय, इसी को श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह मेरी प्रकृति को प्राप्त होता है।

जो महापुरुष प्रकृति का विलय करके स्वरूप में प्रवेश पा गया उसकी प्रकृति कैसी? क्या उसमें प्रकृति शेष ही है? नहीं, अध्याय ३/३३ में योगेश्वर श्रीकृष्ण कह चुके हैं कि सभी प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। जैसा उनके ऊपर प्रकृति के गुणों का दबाव है, वैसा करते हैं और **'ज्ञानवानपि'**- प्रत्यक्षदर्शन के साथ जानकारी वाला ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के सदृश चेष्टा करता है। वह पीछे वालों के कल्याण के लिये करता है। पूर्ण ज्ञानी तत्त्वस्थित महापुरुष की रहनी ही उसकी प्रकृति है। वह अपने इसी स्वभाव में बरतता है। कल्प के क्षय में लोग महापुरुष की इसी रहनी को प्राप्त होते हैं। महापुरुष के इसी कृतित्व पर पुनः प्रकाश डालते हैं-

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अपनी प्रकृति अर्थात् महापुरुष की रहनी स्वीकार करके **'प्रकृतेर्वशात्'**- अपने-अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के गुणों से परवश हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं बारम्बार **'विसृजामि'**- विशेष सृजन, विशेष रूप से सजाता हूँ। इन्हें अपने स्वरूप की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित करता हूँ। तब तो आप इस कर्म से बँधे हैं?

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अध्याय ४/९ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि महापुरुष की कार्य-प्रणाली अलौकिक है। अध्याय ९/४ में बताया - मैं अव्यक्त रूप से करता हूँ। यहाँ भी वही कहते हैं कि, धनंजय! जिन कर्मों को मैं अदृश्य रूप से करता हूँ, उनमें मेरी आसक्ति नहीं है। उदासीन के सदृश स्थित रहनेवाले मुझ परमात्म-स्वरूप को वे कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि कर्म के परिणाम में जो लक्ष्य मिलता है, उसमें मैं स्थित हूँ इसलिये उन्हें करने के लिये मैं विवश नहीं हूँ।

यह तो स्वभाव के साथ जुड़ी प्रकृति के कार्यों का प्रश्न था, महापुरुष की रहनी थी, उनकी रचना थी। अब मेरे अध्यास से जो माया रचती है, वह क्या है? वह भी एक कल्प है-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अर्जुन! मेरी अध्यक्षता में अर्थात् मेरी उपस्थिति में सर्वत्र व्याप्त मेरे अध्यास से यह माया (त्रिगुणमयी प्रकृति, अष्टधा मूल प्रकृति और चेतन दोनों) चराचर सहित जगत् को रचती है, जो क्षुद्र कल्प है और इसी कारण से यह संसार आवागमन के चक्र में घूमता रहता है। प्रकृति का यह क्षुद्र कल्प जिसमें काल का परिवर्तन है, मेरे अध्यास से प्रकृति ही करती है, मैं नहीं करता; किन्तु सातवें श्लोक का कल्प आराधना का संचार एवं पूर्तिपर्यन्त मार्गदर्शनवाला कल्प महापुरुष स्वयं करते हैं। एक स्थान पर वे स्वयं कर्त्ता हैं, जहाँ वे विशेष रूप से सृजन करते हैं। यहाँ कर्त्ता प्रकृति है, जो केवल मेरे अध्यास से यह क्षणिक परिवर्तन करती है जिसमें शरीरों का परिवर्तन, काल-परिवर्तन, युग-परिवर्तन इत्यादि आते हैं। ऐसा व्याप्त प्रभाव होने पर

भी मूढ़ लोग मुझे नहीं जानते। यथा-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परमभाव को न जाननेवाले मूढ़ लोग मुझे मनुष्य-शरीर के आधारवाला और तुच्छ समझते हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के ईश्वरों का भी जो महान् ईश्वर है, उस परमभाव में मैं स्थित हूँ; किन्तु हूँ मनुष्य-शरीरधारी, मूढ़ लोग इसे नहीं जानते। वे मुझे मनुष्य कहकर सम्बोधित करते हैं। उनका दोष भी क्या है? जब वे दृष्टिपात करते हैं तो महापुरुष का शरीर ही तो दिखायी पड़ता है। कैसे वे समझें कि आप महान् ईश्वरभाव में स्थित हैं? वे क्यों नहीं देख पाते? इस पर कहते हैं-

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

वे वृथा आशा (जो कभी पूर्ण न हो ऐसी आशा), वृथा कर्म (बन्धनकारी कर्म), वृथा ज्ञान (जो वस्तुतः अज्ञान है), **'विचेतसः'**- विशेष रूप से अचेत हुए, राक्षसों और असुरों के-से मोहित होनेवाले स्वभाव को धारण किये होते हैं अर्थात् आसुरी स्वभाववाले होते हैं इसलिए मनुष्य समझते हैं। असुर और राक्षस मन का एक स्वभाव है, न कि कोई जाति या योनि। आसुरी स्वभाववाले मुझे नहीं जान पाते; किन्तु महात्माजन मुझे जानते और भजते हैं-

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

हे पार्थ! परन्तु दैवी प्रकृति अर्थात् दैवी सम्पद् के आश्रित हुए महात्माजन मुझे सब भूतों का आदिकारण, अव्यक्त और अक्षर जानकर अनन्य मन से अर्थात् मन के अन्तराल में किसी अन्य को स्थान न देकर केवल मुझमें श्रद्धा रखकर निरन्तर मुझे भजते हैं। किस प्रकार भजते हैं? इस पर कहते हैं-

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

वे निरन्तर चिन्तन के व्रत में अचल रहते हुए मेरे गुणों का चिन्तन करते हैं, प्राप्ति के यत्न करते हैं और मुझे बारम्बार नमस्कार करते हुए सदैव मुझ से संयुक्त होकर अनन्य भक्ति से मुझे उपासते हैं। अविरल लगे रहते हैं। कौन-सी उपासना करते हैं? कैसा है यह कीर्तिमान? कोई दूसरी उपासना नहीं वरन् वही 'यज्ञ' जिसे विस्तार से बता आये हैं। उसी आराधना को यहाँ संक्षेप में योगेश्वर श्रीकृष्ण दुहरा रहे हैं-

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

उनमें से कोई तो मुझ सर्वव्याप्त विराट् परमात्मा को ज्ञान-यज्ञ द्वारा यजन करते हैं अर्थात् अपनी लाभ, हानि और शक्ति को समझकर इसी नियत कर्म यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं। कुछ एकत्व भाव से मेरी उपासना करते हैं कि मुझे इसी में एक होना है और दूसरे सब कुछ मुझे अलग रखकर, मुझे समर्पण करके निष्काम सेवा-भाव से मुझे उपासते हैं तथा बहुत प्रकार से उपासते हैं; क्योंकि एक ही यज्ञ के ये सभी ऊँचे-नीचे स्तर हैं। यज्ञ का आरम्भ सेवा से ही होता है; किन्तु उसका अनुष्ठान होता कैसे है? योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- यज्ञ मैं करता हूँ। यदि महापुरुष रथी न हो, तो यज्ञ पार नहीं लगेगा। उन्हीं के निर्देशन में साधक समझ पाता है कि अब वह किस स्तर पर है, कहाँ तक पहुँच सका है? वस्तुतः यज्ञकर्त्ता कौन है? इस पर योगेश्वर कहते हैं-

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

कर्त्ता मैं हूँ। वस्तुतः कर्त्ता के पीछे प्रेरक के रूप में सदैव संचालित करनेवाला इष्ट ही है। कर्त्ता द्वारा जो पार लगता है, मेरी देन है। यज्ञ मैं हूँ। यज्ञ आराधना की विधि-विशेष है। पूर्तिकाल में यज्ञ जिसका सृजन करता है, उस अमृत को पान करनेवाला पुरुष सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। स्वधा मैं हूँ अर्थात् अतीत के अनन्त संस्कारों को विलय करना, उन्हें तृप्त कर देना मेरी देन है। भवरोग को मिटानेवाली औषधि मैं हूँ। मुझे पाकर लोग इस रोग से निवृत्त हो जाते हैं। मन्त्र मैं हूँ। मन को श्वास के अन्तराल में

निरोध करना मेरी देन है। इस निरोध-क्रिया में तीव्रता लानेवाली वस्तु 'आज्य' (हवि) भी मैं हूँ। मेरे ही प्रकाश में मन की सभी प्रवृत्तियाँ विलय होती हैं तथा हवन अर्थात् समर्पण भी मैं ही हूँ।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण बार-बार 'मैं हूँ' कह रहे हैं। इसका आशय मात्र इतना ही है कि मैं ही प्रेरक के रूप में आत्मा से अभिन्न होकर खड़ा हो जाता हूँ तथा निरन्तर निर्णय देते हुए योग-क्रिया को पूर्ण कराता हूँ। इसी का नाम विज्ञान है। पूज्य महाराज जी कहा करते थे कि - ''जब तक इष्टदेव रथी होकर श्वास-प्रश्वास पर रोकथाम न करने लगें, तब तक भजन आरम्भ ही नहीं होता।'' कोई लाख आँख मूंदे, भजन करे, शरीर को तपा डाले लेकिन जब तक जिस परमात्मा की हमें चाह है वह, जिस सतह पर हम खड़े हैं, उस स्तर पर उतर कर आत्मा से अभिन्न होकर जागृत नहीं हो जाता, तब तक सही मात्रा में भजन का स्वरूप समझ में नहीं आता। इसलिये महाराज जी कहते थे - ''मेरे स्वरूप को पकड़ो, मैं सब दूँगा।'' श्रीकृष्ण कहते हैं - सब मुझसे होता है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

अर्जुन! मैं ही सम्पूर्ण जगत् का **'धाता'** अर्थात् धारण करनेवाला, **'पिता'** अर्थात् पालन करनेवाला, **'माता'** अर्थात् उत्पन्न करनेवाला, **'पितामहः'** अर्थात् मूल उद्‌गम हूँ, जिसमें सभी प्रवेश पाते हैं और जानने योग्य पवित्र ओंकार अर्थात् **'अहं आकारः इति ओंकारः'** वह परमात्मा मेरे स्वरूप में है। 'सोऽहं, तत्त्वमसि' इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं, ऐसा जानने योग्य स्वरूप मैं ही हूँ। **'ऋक्'** अर्थात् सम्पूर्ण प्रार्थना, **'साम'** अर्थात् समत्व दिलानेवाली प्रक्रिया, **'यजुः'** अर्थात् यजन की विधि-विशेष भी मैं ही हूँ। योग-अनुष्ठान के उक्त तीनों आवश्यक अंग मुझसे होते हैं-

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

हे अर्जुन! **'गतिः'** अर्थात् प्राप्त होने योग्य परमगति, **'भर्ता'**- भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, **'साक्षी'** अर्थात् द्रष्टा-रूप में स्थित सबको जाननेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, अकारण प्रेमी

मित्र, उत्पत्ति और प्रलय अर्थात् शुभाशुभ संस्कारों का विलय तथा अविनाशी कारण मैं ही हूँ। अर्थात् अन्त में जिनमें प्रवेश मिलता है, वे सारी विभूतियाँ मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

मैं सूर्यरूप से तपता हूँ, वर्षा को आकर्षित करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। मृत्यु से परे अमृततत्त्व तथा मृत्यु, सत् और असत् सब कुछ मैं ही हूँ। अर्थात् जो परमप्रकाश प्रदान करता है, वह सूर्य मैं ही हूँ। कभी-कभी भजनेवाले मुझे असत् भी मान बैठते हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कहते हैं-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

आराधना विद्या के तीनों अंग - ऋक्, साम और यजु अर्थात् प्रार्थना, समत्व की प्रक्रिया और यजन का आचरण करनेवाले, सोम अर्थात् चन्द्रमा के क्षीण प्रकाश को पानेवाले पाप से मुक्त होकर पवित्र हुए पुरुष उसी यज्ञ की निर्धारित प्रक्रिया द्वारा मुझे इष्टरूप में पूजकर स्वर्ग के लिये प्रार्थना करते हैं। यही असत् की कामना है, इससे वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म होता है; जैसा पिछले श्लोक में योगेश्वर ने बताया। वे पूजते मुझे ही हैं, उसी निर्धारित विधि से पूजते हैं; किन्तु बदले में स्वर्ग की याचना करते हैं। वे पुरुष अपने पुण्य के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोग भोगते हैं, अर्थात् यह भोग भी मैं ही देता हूँ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

वे उस विशाल स्वर्ग को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार **'त्रयीधर्मम्'**- प्रार्थना, समत्व एवं यजन की तीनों विधियों से एक ही यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले मेरे शरण हुए भी कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने-आने को अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं किन्तु उनका मूल नाश कभी नहीं होता; क्योंकि इस पथ में बीज का नाश नहीं है। किन्तु जो किसी प्रकार की कामना नहीं करते, उन्हें क्या मिलता है?-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनन्य भाव से मुझमें स्थित भक्तजन मुझ परमात्मस्वरूप का निरन्तर चिन्तन करते हैं, **'पर्युपासते'**- लेशमात्र भी त्रुटि न रखकर मुझे उपासते हैं, उन नित्य एकीभाव से संयुक्त हुए पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् उनके योग की सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी मैं अपने हाथ में लेता हूँ। इतना होने पर भी लोग अन्य देवताओं को भजते हैं-

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

कौन्तेय! श्रद्धा से युक्त हुए जो भक्त दूसरे-दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझे ही पूजते हैं; क्योंकि वहाँ देवता नाम की कोई वस्तु तो होती नहीं, किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है, मेरी प्राप्ति की विधि से रहित है।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दूसरी बार देवताओं के प्रकरण को लिया है। सर्वप्रथम अध्याय सात के बीसवें से तेईसवें श्लोक तक उन्होंने कहा कि, अर्जुन! कामनाओं द्वारा जिनके ज्ञान का अपहरण कर लिया गया है, ऐसे मूढ़बुद्धि पुरुष अन्य देवताओं की पूजा करते हैं और जहाँ पूजा करते हैं, वहाँ देवता नाम की सक्षम सत्ता तो है ही नहीं। परन्तु पीपल, पत्थर, भूत, भवानी अथवा अन्यत्र जहाँ उनकी श्रद्धा झुक जाती है, वहाँ कोई देवता नहीं है। मैं ही सर्वत्र हूँ। उस स्थान पर मैं ही खड़ा होकर उनकी देवश्रद्धा को उन स्थानों पर स्थिर करता हूँ। मैं ही फल का विधान करता हूँ, फल देता हूँ। फल

निश्चित मिलता है; किन्तु उनका फल नाशवान् है। आज है, तो कल भोगने में आ जायेगा, नष्ट हो जायेगा, जबकि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। अतः वे मूढ़बुद्धि जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया है, वही अन्य देवता की पूजा करते हैं।

प्रस्तुत अध्याय नौ के तेईस से पचीसवें श्लोक तक योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः दुहराते हैं कि अर्जुन! जो श्रद्धा से अन्य-अन्य देवताओं को पूजते हैं, वे मुझे ही पूजते हैं, किन्तु अविधिपूर्वक है। वहाँ देवता नाम की सक्षम वस्तु नहीं है। उनकी प्राप्ति की विधि गलत है। अब प्रश्न उठता है कि जब वे भी प्रकारान्तर से आपको ही पूजते हैं और फल भी मिलता ही है, तो दोष क्या है?

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता अर्थात् यज्ञ जिसमें विलय होते हैं, यज्ञ के परिणाम में जो मिलता है वह मैं हूँ और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझे तत्त्व से भली प्रकार नहीं जानते इसलिये **'च्यवन्ति'**- गिरते हैं। अर्थात् वे कभी अन्य देवताओं में गिरते हैं और तत्त्व से जब तक नहीं जानते तब तक कामनाओं से भी गिरते हैं। उनकी गति क्या है?-

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अर्जुन! देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं। देवता हैं तो परिवर्तित सत्ता। वे अपने सद्कर्मानुसार जीवन व्यतीत करते हैं। पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं अर्थात् अतीत में उलझे रहते हैं। भूतों को पूजनेवाले भूत होते हैं, शरीर धारण करते हैं और मेरा भक्त मुझे प्राप्त होता है। वे मेरे साक्षात् स्वरूप होते हैं। उसका पतन नहीं होता। इतना ही नहीं, मेरी पूजा का विधान भी सरल है-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

भक्ति का आरम्भ यहीं से है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है, मन से प्रयत्न करनेवाले उस भक्त का वह

सब मैं खाता हूँ अर्थात् स्वीकार करता हूँ। इसलिये-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अर्जुन! तू जो कर्म (यथार्थ कर्म) करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, समर्पण करता है, दान देता है, मनसहित इन्द्रियों को जो मेरे अनुरूप तपाता है, वह सब मुझे अर्पण कर अर्थात् मेरे प्रति समर्पित होकर यह सब कर। समर्पण करने से योग के क्षेत्र की जिम्मेदारी मैं ले लूँगा।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

इस प्रकार सर्वस्व के न्यास संन्यास योग से युक्त हुआ तू शुभाशुभ फलदाता कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर मुझे प्राप्त होगा।

उपर्युक्त तीन श्लोकों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने क्रमबद्ध साधन और उसके परिणाम का चित्रण किया है। पहले पत्र-पुष्प, फल-जल का पूर्ण श्रद्धा से अर्पण, दूसरे समर्पित होकर कर्म का आचरण और तीसरे पूर्ण समर्पण के साथ सर्वस्व का त्याग। इनके द्वारा कर्मबन्धन से विमुक्त (विशेष रूप से मुक्त) हो जायेगा। मुक्ति से मिलेगा क्या? तो बताया, मुझे प्राप्त होगा। यहाँ मुक्ति और प्राप्ति एक दूसरे के पूरक हैं। आपकी प्राप्ति ही मुक्ति है, तो उससे लाभ? इस पर कहते हैं-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

मैं सब भूतों में सम हूँ। सृष्टि में न मेरा कोई प्रिय है और न अप्रिय है; किन्तु जो अनन्य भक्त है, वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ। यही मेरा एकमात्र रिश्ता है। उसमें परिपूर्ण हो जाता हूँ। मुझमें और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। तब तो बहुत भाग्यशाली लोग ही भजन करते होंगे? भजन करने का अधिकार किसे है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

यदि अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से अर्थात् (अन्य न) मेरे सिवाय किसी अन्य वस्तु या देवता को न भजकर केवल मुझे ही निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है। अभी वह साधु हुआ नहीं है; किन्तु उसके हो जाने में सन्देह भी नहीं है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। अतः भजन आप भी कर सकते हैं, बशर्ते कि आप मनुष्य हों; क्योंकि मनुष्य ही यथार्थ निश्चयवाला है। गीता पापियों का उद्धार करती है और वह पथिक-

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

इस भजन के प्रभाव से वह दुराचारी भी शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, परमधर्म परमात्मा से संयुक्त हो जाता है तथा सदैव रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। यदि एक जन्म में पार नहीं लगा तो अगले जन्मों में भी वही साधन करके शीघ्र ही परमशान्ति को प्राप्त होता है। अतः सदाचारी, दुराचारी सभी को भजन करने का अधिकार है। इतना ही नहीं, अपितु-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि तथा जो कोई पापयोनि वाले भी हों, वे सभी मेरे आश्रित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं। अतः यह गीता मनुष्य मात्र के लिए है, चाहे वह कुछ भी करता हो, कहीं भी पैदा हुआ हो। सबके लिये यह एक समान कल्याण का उपदेश करती है। गीता सार्वभौम है।

पापयोनिः- अध्याय १६/७-२१ में आसुरी वृत्ति के लक्षणों के अन्तर्गत भगवान ने बताया कि जो शास्त्रविधि को त्यागकर नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भ से यजन करते हैं, वे नरों में अधम हैं। यज्ञ है नहीं किन्तु नाम दे रखा है और दम्भ से यजन करता है वह क्रूरकर्मी और पापाचारी (पापयोनि) है। जो मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं वही पापी हैं। वैश्य, शूद्र भगवत्पथ की सीढ़ियाँ हैं। स्त्रियों के प्रति कभी सम्मान, कभी हीनता की भावना समाज में

रही है इसीलिए श्रीकृष्ण ने इनका नाम लिया। योग-प्रक्रिया में स्त्री और पुरुष दोनों का समान ही प्रवेश है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

फिर तो ब्राह्मण, राजर्षि तथा क्षत्रिय श्रेणीप्राप्त भक्तों के लिए कहना ही क्या है? ब्राह्मण एक अवस्था-विशेष है, जिसमें ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यताएँ विद्यमान हैं। शान्ति, आर्जव, अनुभवी उपलब्धि, ध्यान और इष्ट के निर्देशन पर जिसमें चलने की क्षमता है, वही ब्राह्मण की अवस्था है। राजर्षि क्षत्रिय में ऋद्धियों-सिद्धियों का संचार, शौर्य, स्वामीभाव, पीछे न हटने का स्वभाव रहता है। इस योगस्तर पर पहुँचे हुए योगी तो पार होते ही हैं, उनके लिए क्या कहना है। अतः अर्जुन! तू सुखरहित क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर मेरा ही भजन कर। इस नश्वर शरीर के ममत्व, पोषण में समय नष्ट न कर।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यहाँ चौथी बार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चर्चा की। अध्याय दो में उन्होंने कहा कि क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कल्याण का कोई रास्ता नहीं है। अध्याय तीन में उन्होंने कहा कि स्वधर्म में निधन भी श्रेयतर है। अध्याय चार में उन्होंने संक्षेप में बताया कि चार वर्णों की रचना मैंने की। तो क्या मनुष्य को चार जातियों में बाँटा? बोले, नहीं **'गुणकर्म विभागशः'**- गुण के पैमाने से कर्म को चार श्रेणियों में रखा। श्रीकृष्ण के अनुसार, कर्म एकमात्र यज्ञ की प्रक्रिया है। अतः इस यज्ञ को करनेवाले चार प्रकार के हैं। प्रवेशकाल में यह यज्ञकर्त्ता शूद्र है, अल्पज्ञ है। कुछ करने की क्षमता आई, आत्मिक सम्पत्ति का संग्रह हुआ तो वही यज्ञकर्त्ता वैश्य बन गया। इससे उत्पन्न होने पर प्रकृति के तीनों गुणों को काटने की क्षमता आ जाने पर वही साधक क्षत्रिय श्रेणी का है और जब इसी साधक के स्वभाव में ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली योग्यतायें ढल जाती हैं, तो वही ब्राह्मण है। वैश्य एवं शूद्र की अपेक्षा क्षत्रिय और ब्राह्मण श्रेणी का साधक प्राप्ति के अधिक समीप है। शूद्र और वैश्य भी उसी ब्रह्म में प्रवेश

पाकर शान्त होंगे फिर इसके आगे की अवस्थावालों के लिये तो कहना ही क्या है। उनके लिये तो निश्चित ही है।

गीता जिन उपनिषदों का सार-सर्वस्व है, उनमें ब्रह्मविदुषी महिलाओं के आख्यान भरे पड़े हैं। तथाकथित धर्मभीरु, रूढ़िवादी वेदाध्ययन के अधिकार-अनाधिकार की व्यवस्था देने में माथा-पच्ची करते रहें, योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्पष्ट उद्घोष है कि यज्ञार्थ कर्म की निर्धारित क्रिया में स्त्री-पुरुष सभी प्रवेश ले सकते हैं। अतः वे भजन की धारणा पर प्रोत्साहन देते हैं-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

अर्जुन! मेरे में ही मन वाला हो। सिवाय मेरे दूसरे भाव मन में न आने पायें। मेरा अनन्य भक्त हो, अनवरत चिन्तन में लग। श्रद्धासहित मेरा ही निरन्तर पूजन कर और मेरे को ही नमस्कार कर। इस प्रकार मेरे शरण हुआ, आत्मा को मुझमें एकीभाव से स्थित कर तू मुझे ही प्राप्त होगा अर्थात् मेरे साथ एकता प्राप्त करेगा।

निष्कर्ष-

इस अध्याय के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तुझ दोषरहित भक्त के लिए मैं इस ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा। जिसे जानकर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा। इसे जानकर तू संसार-बन्धन से छूट जायेगा। यह ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का राजा है। विद्या वह है, जो परमब्रह्म में प्रवेश दिलाये। यह ज्ञान उसका भी राजा है अर्थात् निश्चित कल्याण करनेवाला है। यह सम्पूर्ण गोपनीयों का भी राजा है, गोपनीय वस्तु को भी प्रत्यक्ष करनेवाला है। यह प्रत्यक्ष फलवाला, साधन करने में सुगम और अविनाशी है। थोड़ा भी इसका साधन आप से पार लग जाय, तो इसका कभी नाश नहीं होता वरन् इसके प्रभाव से वह परमश्रेय तक पहुँच जाता है; किन्तु इसमें एक शर्त है। श्रद्धाविहीन पुरुष परमगति को प्राप्त न होकर संसार-चक्र में भटकता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग के ऐश्वर्य पर भी प्रकाश डाला। दुःख के संयोग का वियोग ही योग है अर्थात् जो संसार के संयोग-वियोग से सर्वथा रहित है, उसका नाम है योग। परमतत्त्व परमात्मा के मिलन का नाम योग है। परमात्मा की प्राप्ति ही योग की पराकाष्ठा है। जो इसमें प्रवेश पा गया, उस योगी के प्रभाव को देख कि सम्पूर्ण भूतों का स्वामी और जीवधारियों का पोषण करनेवाला होने पर भी मेरा आत्मा उन भूतों में स्थित नहीं है। मैं आत्मस्वरूप में स्थित हूँ। वही हूँ। जैसे आकाश में उत्पन्न सर्वत्र विचरने वाला वायु आकाश में ही स्थित है किन्तु उसे मलिन नहीं कर पाता, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं लेकिन मैं उनमें लिप्त नहीं हूँ।

अर्जुन! कल्प के आदि में मैं भूतों को विशेष प्रकार से रचता हूँ, सजाता हूँ और कल्प की पूर्तिकाल में सम्पूर्ण भूत मेरी प्रकृति को अर्थात् योगारूढ़ महापुरुष की रहनी को, उनके अव्यक्त भाव को प्राप्त होते हैं। यद्यपि महापुरुष प्रकृति से परे है; किन्तु प्राप्ति के पश्चात् स्वभाव अर्थात् स्वयं में स्थित रहते हुए लोक-संग्रह के लिए जो कार्य करता है, वह उसकी एक रहनी है। इसी रहनी के कार्य-कलाप को उस महापुरुष की प्रकृति कहकर सम्बोधित किया गया है।

एक रचयिता तो मैं हूँ, जो भूतों को कल्प के लिये प्रेरित करता हूँ और दूसरी रचयिता त्रिगुणमयी प्रकृति है, जो मेरे अध्यास से चराचरसहित भूतों को रचती है। यह भी एक कल्प है, जिसमें शरीर-परिवर्तन, स्वभाव-परिवर्तन और काल-परिवर्तन निहित है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी यही कहते हैं-

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा। जा वश जीव परा भव कूपा।।

(रामचरितमानस, ३/१४/५)

प्रकृति के दो भेद विद्या और अविद्या हैं। इनमें अविद्या दुष्ट है, दुःखरूप है जिससे विवश जीव भवकूप में पड़ा है, जिससे प्रेरित होकर जीव काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में आ जाता है। दूसरी है विद्या माया, जिसे श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं रचता हूँ। गोस्वामी जी के अनुसार प्रभु रचते हैं-

एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।

(रामचरितमानस, ३/१४/६)

यह जगत् की रचना करती है, जिसके आश्रित गुण हैं। कल्याणकारी गुण एकमात्र ईश्वर में हैं। प्रकृति में गुण हैं ही नहीं, वह तो नश्वर है; लेकिन विद्या में प्रभु ही प्रेरक बनकर करते हैं।

इस प्रकार कल्प दो प्रकार के हैं। एक तो वस्तु का, शरीर और काल का परिवर्तन कल्प है; किन्तु यह परिवर्तन प्रकृति ही मेरे आभास से करती है किन्तु इससे महान् कल्प जो आत्मा को निर्मल स्वरूप प्रदान करता है, उसका श्रृंगार महापुरुष करते हैं। वे अचेत भूतों को सचेत करते हैं। भजन का आदि ही इस कल्प का आरम्भ है और भजन की पराकाष्ठा कल्प का अन्त है। जब यह कल्प भवरोग से पूर्ण नीरोग बनाकर शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश (स्थिति) दिला देता है, उस प्रवेशकाल में योगी मेरी रहनी और मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष की रहनी ही उसकी प्रकृति है।

धर्मग्रन्थों में कथानक मिलते हैं कि चारों युग बीतने पर ही कल्प पूर्ण होता है, महाप्रलय होता है। प्रायः लोग इसे यथार्थ नहीं समझते। युग का अर्थ है दो। आप अलग हैं, आराध्य अलग है तब तक युगधर्म रहेंगे। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में इसकी चर्चा की है। जब तामसी गुण कार्य करते हैं, रजोगुण अल्प मात्रा में है, चारों ओर बैर-विरोध है, ऐसा व्यक्ति कलियुगीन है। वह भजन नहीं कर पाता; किन्तु साधन प्रारम्भ होने पर युग-परिवर्तन हो जाता है। रजोगुण बढ़ने लगता है, तमोगुण क्षीण हो चलता है, कुछ सत्त्वगुण भी स्वभाव में आ जाते हैं, हर्ष और भय की दुविधा लगी रहती है तो वही साधक द्वापर की अवस्था में आ जाता है। क्रमशः सत्त्वगुण का बाहुल्य होने पर रजोगुण स्वल्प रह जाता है, आराधना कर्म में रति हो जाती है, ऐसे त्रेतायुग में त्याग की स्थितिवाला साधक अनेकों यज्ञ करता है। **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'**-यज्ञ-श्रेणीवाला जप, जिसका उतार-चढ़ाव श्वास-प्रश्वास पर है, उसे करने की क्षमता रहती है। जब मात्र सत्त्वगुण शेष रहा, विषमता खो गयी, समता आ गई, यह कृतयुग अर्थात्

कृतार्थ युग अथवा सत्ययुग का प्रभाव है। उस समय सब योगी विज्ञानी होते हैं, ईश्वर से मिलने वाले होते हैं, स्वाभाविक ध्यान पकड़ने की उनमें क्षमता रहती है।

विवेकीजन युगधर्मों का उतार-चढ़ाव मन में समझते हैं। मन के निरोध के लिये अधर्म का परित्याग कर धर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। निरुद्ध मन का भी विलय हो जाने पर युगों के साथ-साथ कल्प का भी अन्त हो जाता है। पूर्णता में प्रवेश दिलाकर कल्प भी शान्त हो जाता है। यही प्रलय है, जब प्रकृति पुरुष में विलीन हो जाती है। इसके पश्चात् महापुरुष की जो रहनी है वही उसकी प्रकृति है, उसका स्वभाव है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! मूढ़ लोग मुझे नहीं जानते, मुझ ईश्वरों के ईश्वर को भी तुच्छ समझते हैं, साधारण मनुष्य मानते हैं। प्रत्येक महापुरुष के साथ यह विडम्बना रही है कि तत्कालीन समाज ने उनकी उपेक्षा की। उनका डटकर विरोध हुआ। श्रीकृष्ण भी इसके अपवाद नहीं थे। वे कहते हैं कि मैं परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु शरीर मेरा भी मनुष्य का ही है अतः मूढ़ पुरुष मुझे तुच्छ कहकर, मनुष्य कहकर सम्बोधित करते हैं। ऐसे लोग व्यर्थ आशावाले हैं, व्यर्थ कर्मवाले हैं, व्यर्थ ज्ञानवाले हैं कि कुछ भी करें और कह दें कि हम तो कामना नहीं करते, हो गये निष्काम कर्मयोगी। वे आसुरी स्वभाववाले मुझे नहीं परख पाते; किन्तु दैवी सम्पद् को प्राप्त जन अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हैं। मेरे गुणों का निरन्तर चिन्तन करते हैं।

अनन्य उपासना अर्थात् यज्ञार्थ कर्म के दो ही मार्ग हैं। पहला है ज्ञान-यज्ञ अर्थात् अपने भरोसे, अपनी शक्ति को समझकर उसी नियत कर्म में प्रवृत्त होना और दूसरी विधि स्वामी-सेवक भावना की है, जिसमें सद्गुरु के प्रति समर्पित होकर वही कर्म किया जाता है। इन्हीं दो दृष्टियों से लोग मुझे उपासते हैं; किन्तु उनके द्वारा जो पार लगता है वह यज्ञ, वह हवन, वह कर्त्ता, श्रद्धा और औषधि जिससे भवरोग की चिकित्सा होती है, मैं ही हूँ। अन्त में जो गति प्राप्त होती है, वह गति भी मैं ही हूँ।

इसी यज्ञ को लोग **'त्रैविद्याः'**- प्रार्थना, यजन और समत्व दिलाने वाली विधियों से सम्पादित करते हैं; किन्तु बदले में स्वर्ग की कामना करते

हैं, तो मैं स्वर्ग भी देता हूँ। उसके प्रभाव से वे इन्द्रपद प्राप्त कर लेते हैं, दीर्घकाल तक उसे भोगते हैं; किन्तु पुण्य क्षीण होने पर वे पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। उनकी क्रिया सही थी; किन्तु भोगों की कामना रहने पर पुनर्जन्म पाते हैं। अतः भोगों की कामना नहीं करनी चाहिये। जो अनन्य भाव से अर्थात् 'मेरे सिवाय दूसरा है ही नहीं', ऐसे भाव से जो निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, लेशमात्र भी त्रुटि न रह जाय ऐसे जो भजते हैं, उनके योग की सुरक्षा का भार मैं अपने हाथ ले लेता हूँ।

इतना होने पर भी कुछ लोग अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। वे भी मेरी ही पूजा करते हैं; किन्तु वह मेरी प्राप्ति की विधि नहीं है। वे सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता के रूप में मुझे नहीं जानते अर्थात् उनकी पूजा के परिणाम में मैं नहीं मिलता इसीलिये उनका पतन हो जाता है। वे देवता, भूत अथवा पितरों के कल्पित रूप में निवास करते हैं, जबकि मेरा भक्त साक्षात् मुझमें निवास करता है, मेरा ही स्वरूप हो जाता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस यज्ञार्थ कर्म को अत्यन्त सुगम बताया कि कोई फल-फूल या जो भी श्रद्धा से देता है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ। अतः अर्जुन! तू जो कुछ आराधना करता है, मुझे समर्पित कर। जब सर्वस्व का न्यास हो जायेगा, तब योग से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जायेगा और यह मुक्ति मेरा ही स्वरूप है।

दुनिया में सब प्राणी मेरे ही हैं, किसी भी प्राणी से न मुझे प्रेम है न द्वेष। मैं तटस्थ हूँ; किन्तु जो मेरा अनन्य भक्त है, मैं उसमें हूँ वह मुझमें है। अत्यन्त दुराचारी, जघन्यतम पापी ही कोई क्यों न हो फिर भी अनन्य श्रद्धा-भक्ति से मुझे भजता है, तो वह साधु मानने योग्य है। उसका निश्चय स्थिर है तो वह शीघ्र ही परम से संयुक्त हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि धार्मिक कौन है। सृष्टि में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी अनन्य भाव से एक परमात्मा को भजता है, उसका चिन्तन करता है तो वह शीघ्र ही धार्मिक हो जाता है। अतः धार्मिक वह है, जो एक परमात्मा का सुमिरन करता है। अन्त में आश्वासन देते हैं कि -

अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। कोई शूद्र हो, नीच हो, आदिवासी हो या अनादिवासी या कुछ भी नामधारी हो, पुरुष अथवा स्त्री हो अथवा पापयोनि, तिर्यक् योनिवाला भी जो हो, मेरी शरण होकर परमश्रेय को प्राप्त होता है। इसलिये अर्जुन! सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर मेरा भजन कर। फिर तो जो ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली अर्हताओं से युक्त है, उस ब्राह्मण तथा जो राजर्षित्व के स्तर से भजनेवाला है, ऐसे योगी के लिए कहना ही क्या है? वह तो पार ही है। अतः अर्जुन! निरन्तर मुझमें मनवाला हो, निरन्तर नमस्कार कर। इस प्रकार मेरी शरण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा, जहाँ से पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।

प्रस्तुत अध्याय में उस विद्या पर प्रकाश डाला गया, जिसे श्रीकृष्ण स्वयं जागृत करते हैं। यह राजविद्या है, जो एक बार जागृत होने पर निश्चित कल्याण करती है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'राजविद्याजागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'राजविद्या जागृति' नामक नौवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'राजविद्याजागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।